

## धर्म से निर्ग्रन्थ

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

ग्रन्थ का अर्थ है गांठ। निर्ग्रन्थ का अर्थ है गांठ से रहित होना। जहां पर गांठ होती है वहां रस नहीं होता। जैसे गन्ना रसीला होता है। गन्ने में जहां गांठ होती है वहां रस नहीं होता और वह बहुत मजबूत होता है। शरीर में जहां गांठ पड़ जाती है उस स्थान पर रक्त का संचार रुक जाता है और कोई भयंकर बीमारी का सूचक होता है। रस्सी में यदि गांठ पड़ जाए तो रस्सी सीधी नहीं रह सकती। इसलिए गांठ कष्ट का सूचक है। धर्म में यदि गांठ पड़ जाए तो उसके अनुयाइयों में मतभेद दिखाई देता है। रहीमदासजी ने लिखा है कि –

**रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय।**

**टूटे पर फिर ना जुड़े, जुड़े गांठ पड़ जाय।।**

कहने का भाव है कि प्रेम के बीच में यदि गांठ पड़ जाती है तो दरार पड़ जाता है। यदि वह प्रेम टूट जाये तो पुनः जुड़ने पर गांठ पड़ जाती है। गांठ समस्या पैदा करती है यह गतिरोध उत्पन्न करती है। सड़क पर चलते समय यदि सड़क उबड़-खाबड़ है तो चालक को सावधानीपूर्वक वाहन चलाना पड़ता है। यदि सड़क अच्छे ढंग से बनी है तो गांड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ती है। परिवार के सभी सदस्यों के बीच में यदि सामंजस्य रहता है तो सभी पारिवारिक सदस्य प्रेमपूर्वक रहते हैं। यदि आपस में प्रेम नहीं रहता और एक-दूसरे से मनमुटाव रहता है तो भाईचारा नहीं बढ़ता। भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए लोभ, मान, माया, मोह नहीं होना चाहिए। यह भी गांठें हैं इन गांठों के कारण व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता। जहां गांठ रहती है वहां मनमुटाव का रहना आवश्यक हो जाता है। भारतीय साहित्य में बेद, उपनिषद, स्मृतियां और अन्य लौकिक साहित्य में यही बताया गया है कि परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिए। मन में गांठ बांधकर रहने से परिवार में मतभेद पैदा होता है। धर्म एक-दूसरे में सदभाव पैदा करता है। धर्म ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ की ओर ले चलता है। जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म है। इसे आर्हत धर्म भी कहते हैं। धर्म एक ऐसी संजीवनी है जिसके द्वारा गांठें समाप्त हो जाती

है। सच्चे धर्म से मानव का विकास होता है। दुनिया में सबसे अधिक कल्याण करने वाली है धर्म से यदि अहिंसा को निकाल दिया जाये तो धर्म में कुछ बचता ही नहीं। अहिंसा, संयम, परोपकार, सद्भाव, समता, सह—अस्तित्व धर्म के विभिन्न अवयव हैं। धर्म नियंत्रण और मर्यादा का पाठ पढ़ाता है। धर्म संयम सिखलाता है इसलिए कहा गया है कि सर्व भूतेषु संयमः अहिंसा। सभी प्राणियों के प्रति संयम करना अहिंसा है। अहिंसक व्यक्ति हर प्राणी को आत्मवत् समझता है। जो आत्मा को देखता है, जो संयम को देखता है वह अहिंसावादी है। सभी मंगलों में अहिंसा शब्द श्रेष्ठ है। प्राप्त मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को दुःख ना देना सबसे बड़ी तपस्या है। तपस्या से अशुद्धि जलकर नष्ट हो जाती है। भव—भवान्तर में किये गये पापों का शोधन हो जाता है तो धर्म ही एक ऐसा साधन है जिससे निर्ग्रन्थ बना जा सकता है। धर्म सम्प्रदाय से पृथक है। जैसे केले का छिलका सम्प्रदाय है और उसका गुदा धर्म है। धर्म गुहा में छिपा हुआ वह तत्त्व है जिसके पालन करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। हृदय की सभी ग्रन्थियां नष्ट हो जाती है। धर्म प्राणियों को तोड़ता नहीं बल्कि जोड़ता है। धर्म की शरण में जाने से मनुष्य का दुःख समाप्त हो जाता है। धर्म मानव का आन्तरिक गुण है।

धर्म बहुत ही व्यापक शब्द है। इसके अंतर्गत भावों की शुद्धता, मन की निर्मलता और सात्विक विचार का अधिक महत्व है। धर्म मूलतः किसी वस्तु का सहज गुण है। जैसे पानी का धर्म शीतलता, अग्नि का धर्म उष्णता और पृथ्वी का धर्म गंध है। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ हैं उन सबका स्वाभाविक धर्म होता है। जब पदार्थों में विकृति उत्पन्न की जाती है तो उनके गुण धर्म भी बदल जाते हैं। आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जिसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं आती है। यह अपने स्वरूप में चैतन्य युक्त है। शेष जितने भी पदार्थ हैं वे भौतिक तत्त्व हैं। उन पदार्थों में परिवर्तन, परिवर्धन होता रहता है। आत्मा और जड़ का जब संयोग होता है तो जड़ पदार्थ भी आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। शरीर से जब आत्मा का संयोग होता है तो जड़ शरीर भी आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। शरीर से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कार्य किये जाते हैं। मूलतः आत्मा के शुद्धि और अशुद्धि का कोई प्रश्न नहीं है। शरीर में शुद्धता और अशुद्धता देखी जाती है। यदि मानव अच्छा कर्म करता है तो पुण्यलोक की प्राप्ति होती है और यदि बुरा कार्य करता है तो उसे नरक की प्राप्ति होती है।

इसीको ध्यान में रखकर यह बात कही गयी है कि धर्म आत्मा को शुद्ध करता है। आत्मा को न तो आंखों से देखा जा सकता है, न वाणी से कहा जा सकता है, न तो अन्य इन्द्रियों से उसे जाना जा सकता है, न तपस्या और कर्म से ही उसे जाना जा सकता है। इसलिये कहा गया है कि 'ज्ञानप्रसादेन तं पश्यते' अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही उसे जाना जा सकता है। जप, तप निखिलकर्मानुष्ठान ये सारे साधन आत्मविषयक आचार में परिगणित हैं, किन्तु ये केवल चित्त शुद्धि तक ही सीमित हैं। शुद्ध चित्त में ज्ञान का प्राकट्य उसी प्रकार होता है जैसे स्वच्छ कांच में प्रतिबिम्बोपलब्धि होती है।